अध्याय दो

स्त्री स्वत्व के नए अर्थ एवं सन्दर्भ

स्त्री प्रकृति का सबसे खूबसूरत उपहार तथा एक रहस्यमय शक्ति है जो इस संसार की सुन्दरता को बढ़ाती है और समाज, संस्कृति एवं साहित्य का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। आज़ादी के बाद के भारत में स्त्रियों ने घर की चारदीवारी से बाहर निकलकर अपनी अलग स्वत्व और पहचान बनाई है। आज का युग महिला सशक्तीकरण का युग है जिसमें आधुनिक परिस्थितियों ने स्त्रियों को सदियों से उनके साथ हो रहे अत्याचारों और अन्यायों के खिलाफ़ आवाज़ उठाने की शक्ति दी है।

संसार के प्रत्येक भाग की अपनी अलग-अलग विशेषताएँ हैं और इन विशेषताओं के व्यापक दायरे में मानव जीवन भी शामिल है और इसके प्रत्येक हिस्से का मूल चेतन है ताकि चेतन संसार का सबसे शक्तिशाली और प्रभावशाली प्राणी मानव ही है। मानव जीवन में स्त्री-पुरुष एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं, जिससे मानव की संस्कृति, सभ्यता और प्रगति होती है; स्त्री के बिना यह अधूरा माना जाएगा, इसलिए समाज में स्त्री के बिना पुरुष अधूरा है और पुरुष के बिना स्त्री अधूरी है, अर्थात स्त्री और पुरुष परस्पर पूरक हैं।

2.1 स्वत्व : स्वरूप एवं अवधारणा

स्वत्व मन की वह अवस्था है जो मानवता के साथ-साथ उसकी आन्तरिक और बाहरी चेतना के विकास में मानवीय भूमिका को रेखांकित करती है। जैसे-जैसे मनुष्य अधिक प्रगतिशील, ज्ञानपूर्ण और धार्मिक सहिष्णुता के स्तर तक विकसित हुआ है, स्वत्व ने उसके जीवन अनुशासन और आलोचनात्मक दृष्टि को भी विकसित किया है और स्वत्व की खोज सामाजिक विकास में बाह्यता और आन्तरिकता के विभाजन से हटकर अपनी कसौटी की खोज है।

स्वत्व की प्रासंगिकता और उसकी ऐतिहासिकता का प्रश्न इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि मानवता के इतिहास के साथ-साथ हम संघर्ष, शोषण, द्वन्द्व, उत्पीड़न, लैंगिक असमानता

और सत्ता के केन्द्रीकरण का इतिहास भी फलते-फूलते देखते हैं। सदियों से चले आ रहे लैंगिक उत्पीड़न और असमान राजनीति ने स्वत्व के स्वरूप एवं अवधारणा के अध्ययन को नए सामाजिक दर्शन का एक अनिवार्य हिस्सा बना दिया है। दर्शन और चिन्तन के स्तर पर जो 'स्वत्व' है वही व्यवहार एवं आन्दोलनों के स्तर पर 'विमर्श' है। स्वत्व का उद्देश्य एवं लक्ष्य सामाजिक होता है और व्यक्ति सबसे पहले सामाजिक स्थितियों तथा रिश्तों में अपनी पहचान एवं उपस्थिति सुनिश्चित करता है फिर व्यक्तिगत स्तर पर अपने स्वत्व को सामाजिक इरादों से जोड़ने का प्रयास करता है।

जिस प्रकार समाज व्यक्ति के उपयोग और उपयोगिता को परिभाषित करता है, उसी प्रकार व्यक्ति भी समाज में अपने अस्तित्व के दौरान अपनी आकांक्षाओं और ज़िम्मेदारियों को तार्किक ढंग से व्यक्त करते हैं। अस्मिता के प्रश्न न केवल व्यक्तिगत पहचान के प्रश्न हैं, बल्कि सामाजिक अस्तित्व और संरचना के भी प्रश्न हैं। सामाजिक भूमिका के बिना स्वत्व के प्रश्नों को सम्बोधित नहीं किया जा सकता है, इसलिए स्वत्व के प्रश्न उतने ही व्यक्तिगत पहचान खोजने के बारे में हैं जितने कि वे समाज द्वारा बनाई गई असमानता के बारे में हैं।

स्वत्व जितनी स्वयं के प्रति संदिग्ध है, वह समाज के प्रति उतना ही मुखर होता है, इसलिए स्वत्व की पहचान और स्वत्व के स्वरूप की पहचान प्रासंगिक और अनिवार्य है। दरअसल, सामाजिक अंतर्विरोधों के बीच व्यक्तिगत स्वत्व के साथ वस्तुगत स्वत्व का द्वंद्वात्मक संयोजन होता है, जिसके कारण स्वत्व का यह दायरा अपने आप में एक बौद्धिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक संरचना का रूप ले लेता है, जिसकी रक्षा के लिए व्यक्ति और समुदाय किसी भी हद तक आगे बढ़ते जाने को तैयार हैं।

स्वत्व व्यक्तित्व, वैयक्तिकता, निजता और अहंकार के साथ-साथ व्यक्ति की केन्द्रीय शक्ति की भावना को सन्दर्भित करता है, और यह भौतिकता के अन्य अनुभवों को लोगों के सामाजिक अभिविन्यास के अन्य पहलुओं से भी जुड़ा हुआ है। इसके अलावा इसका वातावरण, अनुशासन और इसकी व्याख्या भी समय-समय पर बदलती रहती है। इस स्थिति

को विश्लेषित करके डॉ. राजेन्द्र यादव कहते है, "अब इस आइडेंटिटी नाम के तत्व ने अजब संकट खड़ा कर दिया है। अस्मिता जितनी मेरी है उतनी ही मेरे परिवेश और परम्परा की भी है। उसमें वर्ग, वर्ण, क्षेत्र, धर्म, लिंग, परम्पराएँ सभी कुछ घुसे और घुले मिले हैं।" [1]

2.2 स्त्री स्वत्व की अवधारणा : परम्परा एवं स्वरूप

इक्कीसवीं सदी के समसामयिक परिप्रेक्ष्य में यह विचार करना नितान्त प्रासंगिक है कि समाज स्त्री को किस प्रकार परिभाषित करता है, क्योंकि 'स्त्री अस्मिता' के बारे में जानने से पहले 'स्त्री' के स्वरूप एवं अवधारणा से अवगत होना आवश्यक है। इसका कारण यह है कि समाज के कर्ता-विधाताओं ने स्त्री स्वत्व को अनेक खुबसूरत उपनामों से जोड़कर सीमित एवं दायराबद्ध कर दिया है। लेकिन यह एक ऐसा दायरा है जिससे एक स्त्री खुद को मुक्त करना मुश्किल होता है और समाज में उसकी स्वत्व यानि आज़ादी की यह खूबसूरत मिसाल स्त्री अस्मिता पर नकारात्मक प्रभाव डालती है।

सोचने वाली बात यह है कि क्या समाज में स्त्रियों की स्वत्व के अधिकार खुद स्त्री ही तय करती हैं या फिर पितृसत्तात्मक समाज ही स्त्रियों को दायराबद्ध रखने केलिए ज़िम्मेदार है। त्याग, सहनशीलता और समर्पण जैसे पुरुषों के प्रिय गुणों के जाल में फँसकर एक स्त्री अपने स्वत्व के बिना जीने को मज़बूर हो जाती है, चाहे वह शिक्षित हो या अशिक्षित, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता।

इन सबका उत्तराधिकारी पितृसत्तात्मक समाज और स्त्रियों का स्त्रियों के प्रति व्यवहार है। पितृसत्तात्मक समाज ऐसी स्त्रियों को स्वीकार करने या उनकी माँगों को सुनने के लिए तैयार नहीं है। जिस देश में स्त्री को दुर्गा के रूप में पूजती है उसी देश के समाज में स्त्री की दुर्दशा का सबसे विकृत दृश्य देखने को मिलता है, अर्थात समाज ऐसे विरोधाभासों से भरा है कि एक ओर तो स्त्री को पूज्या का स्थान देकर उसकी आराधना करती है तो दूसरी ओर उसे हाशिए पर धकेलने का उपक्रम भी दिखाई देता है। स्त्री के स्वत्व अर्थात् व्यक्तित्व की भावना के कम होने के अनेक प्रकार की प्रतिकूल घटनाएँ एवं विसंगतियाँ देखने को मिलती हैं। यहाँ स्त्री को न केवल एक आश्रित स्त्री के रूप में बल्कि पितृसत्तात्मक समाज

की एक उपभोक्ता वस्तु के रूप में भी दर्शाया गया है और ऐसी खतरनाक स्थिति में एक स्त्री की स्थिति बिखर जाना स्वाभाविक है।

यह सच है कि स्त्री मानव जीवन का एक महत्वपूर्ण पहलू है, वह विशेष रूप से और अधिकतर अपनी स्वत्व और व्यक्तित्व को खोकर पुरुष के जीवन को समृद्ध और सुन्दर बनाने का प्रयास करती है। पवित्रता, दृढ़ता, त्यागमय सेवा, प्रेम जैसे स्त्रियों के अनगिनत गुणों ने हमारी आदिम संस्कृति को जन्म दिया। मुंशी प्रेमचन्द के अनुसार, "पुरुष विकास के क्रम में नारी से पीछे हैं। जिस दिन यह भी पूर्ण विकास तक पहूंचेगा वह स्त्री हो जाएगा। वात्सल्य, कोमलता, दया इन्हीं आधारों पर सृष्टि थमी हुई है और ये स्त्रियों के गुण हैं।" [2]

स्त्री स्वत्व का अर्थ है स्वयं के बारे में स्पष्ट दृष्टिकोण और तदनुसार अपना व्यक्तिगत विकास, स्त्री के स्वयं के दृष्टिकोण और मानसिकता में बदलाव, स्त्री का आचरण, चरित्र और मना करने की स्वतंत्रता आदि। स्त्री स्वत्व एवं स्वतंत्रता की अवधारणा को केन्द्र में लाने का श्रेय स्त्री आन्दोलन और दृश्य माध्यमों को जाता है। यह स्त्री आन्दोलन के संघर्षों और आन्दोलनों का स्पष्ट परिणाम है कि आज स्त्रियाँ गर्व से अपने अधिकारों के लिए लड़ रही हैं। 'मिल' का स्पष्ट कहना है कि, "स्त्रियों की निर्भरता, दासता की आदिम अवस्था का ही एक रूप है। उसमें मौलिक पाश्विकता का एब आज भी है।"[3]

स्त्री स्वत्व की अवधारणा को प्रभावी बनाने के लिए ज़रूरी है कि स्त्रियाँ बोलें, लिखें और एक इन्सान और एक प्राणी के रूप में अपनी स्थिति जानें, उन्हें बदलें और नए विकल्प बनाएँ और यह आवश्यक है कि स्त्रियों की मुक्ति के लिए अध्ययन और लड़ाई एक साथ आएँ। स्त्री स्वत्व की अवधारणा स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार, स्त्रियों के प्रति तर्कसंगत रवैया और स्त्रियों द्वारा पुरुष प्रभुत्व का प्रतिरोध आदि की ओर ले जाती है। स्त्री स्वत्व में व्यक्तित्व, आचरण, अहंकार, आत्म-ज्ञान, व्यक्तिवाद, स्वाभिमान, आत्म-शक्ति आदि शामिल हैं।

स्वत्व का भाव स्वयं में प्रबल होता है जिसका आत्मबल मज़बूत होता है और समाज में उसकी अपनी एक पहचान होती है। डॉ. गणेशदास इस तथ्य को रेखांकित करते हुए

लिखते है, "जब व्यक्ति, परिवेश में अपने अनुरूप जीना चाहती है और वह जी नहीं पाता तब वह अपने परिवेश में अपने अस्तित्व की तलाश करता है। समाज में मनुष्य का अधिकांश व्यक्तित्व स्वयं निर्धारित करे उसकी इच्छा के साथ साथ यह प्रश्न भी मन में उठता है कि हम दूसरों के अनुरूप क्यों जिये।" [4]

स्त्रियों के स्वत्व की लड़ाई स्त्रियों को इन्सान का दर्ज़ा दिलाने की लड़ाई है। डॉ. गोपाल राय के मत में, "यदि स्वतंत्रता और समानता मनुष्य की मूल चेतना का अंग है तो स्त्री को भी बहुत दिनों तक दबाया नहीं जा सकता। इसीलिए वह आज वे प्रश्न पूछ रही हैं जो युगों युगों से उसकी माताओं, दादियों, नानियों के सीने में दफन पड़े रहे हैं। इस अर्थ में परम्परा बनाम आधुनिकता का प्रश्न आज के उग्रतम प्रश्नों में से है।" [5]

व्यक्ति के विकास के लिए स्वतंत्रता आवश्यक है, जिससे ही व्यक्ति को आत्मविश्वास मिलता है और वह अपनी सार्थक स्वत्व की पहचान बना सकता है। समान शैक्षिक, मानसिक और पर्यावरणीय पृष्ठभूमि वाले पुरुषों और स्त्रियों में मित्रता की समान भावनाएँ हो सकती हैं। आशारानी व्होरा के अनुसार, "स्त्री को एक पल केलिए भी यह नहीं भूलना चाहिए कि वह स्त्री है, और सुखी दाम्पत्य जीवन बहुत हद तक उसके द्वारा अपने पति के साथ किए जानेवाले व्यवहार पर निर्भर है।" [6]

स्त्री को पारम्परिक रूढ़ियों, मान्यताओं और अन्धविश्वासों के शोषण से मुक्त होकर समाज में अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व और स्वत्व को स्थापित करनी होगी; साथ ही स्त्रियों को उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व से अवगत कराने के लिए उन्हें पारम्परिक बंदिशों के दायरे से बाहर निकलकर एक इन्सान के रूप में पेश करना ज़रूरी है। बंगला लेखिका तस्लीमा नसरीन के अनुसार, "जिस दिन यह समाज स्त्री शरीर का नहीं, शरीर के अंग प्रत्यंग का नहीं, स्त्री मेधा और श्रम का मूल्य सीख जाएगा सिर्फ उस दिन स्त्री को मनुष्य के रूप में स्वीकृत होगी।" [7]

2.2.1 स्त्री : व्युत्पत्तिगत अर्थ

प्रत्येक समाज में स्त्रियों की स्थिति में भिन्नता और विविधता होती है, यह विविधता उस समाज या देश में प्रचलित परम्पराओं, संस्कारों, रीति-रिवाज़ों, मूल्यों, मान्यताओं और आदर्शों के अनुसार निर्धारित होती है। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि समाज की अधिकांश मान्यताएँ पुरुषों द्वारा बनाई गई हैं और पुरुष प्रधान समाज, संस्कृति और सभ्यता में कुछ मान्यताओं और नियमों का पालन करना एक स्त्री का कर्तव्य और ज़िम्मेदारी माना जाता हैं।

डॉ. शीला रजवार के अनुसार, "हिन्दू संस्कृति हमेशा से ही पुरुष को प्रधानता प्रदान की है। पुरुषार्थ चतुष्ट्य (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति) की बद्धमूल धारणा इस बात की द्योतक है। विचारकों ने भी उसके इसी रूप का अध्ययन, मनन, चिन्तन कर व्यवहार जगत में उसकेलिए नियम निर्धारित किये और पुरुष के जीवन और उद्देश्य में जिस रूप में सामने आई उन्हीं रूपों का चित्रण किया।" [8]

'स्त्री' शब्द वैदिक संस्कृत से है, इसका प्रयोग सबसे पहले ऋग्वेद (४.६.७) में हुआ था। 'स्त्री' शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार उसे स्त्री इसलिए कहा जाता है क्योंकि वह 'स्त्री-सूत्री', 'जन्मदात्री' है यानी वह परिवार की मुखिया होती है। दूसरे अर्थ में, जन्म देने की क्षमता के कारण उसे 'जन्मदात्री' अथवा 'स्त्री' कहलाती है, अर्थात स्त्री वह है जिसका अर्थ 'महिला', 'पवित्रता' आदि है।

डॉ. शीला राजवार के अनुसार, "अब तक के विकास क्रम में अधिकांशतः नारी पुरुष केलिए है। उसके देवी, दानवी, आदर्श, आदर्शहीन, पूज्य और निन्दनीय सभी रूप पुरुष रूपी धुरी के चारों ओर घूमनेवाले रूप हैं। परिस्थिति, कार्य और रूपों के अनुसार नारी के अनेक रूप भारतीय समाज में प्रचलित रहे हैं।" [9]

2.3 स्त्री स्वत्व का स्वरूप : विभिन्न भारतीय सन्दर्भ में

समसामयिक परिवर्तनशील एवं प्रगतिशील परिप्रेक्ष्य में स्त्री स्वत्व का विश्लेषण करना अत्यन्त अनिवार्य एवं प्रासंगिक है। वर्तमान परिस्थिति में स्त्री स्वत्व की खोज का विश्लेषण करने के साथ-साथ अतीत का मूल्यांकन करना विशेष रूप से वाँछनीय है क्योंकि स्त्री के

पारम्परिक मूल्य एवं मान्यताएँ जीवन के वर्तमान परिप्रेक्ष्य से प्रभावित होती है। अत: वर्तमान भारतीय स्त्री के जीवन की रूपरेखा निर्धारित करने से पूर्व प्राचीन अथवा परम्परागत स्त्री की स्वत्व के लिए संघर्ष की घटनाओं पर तत्कालीन मान्यताओं एवं दृष्टिकोणों के आधार पर विचार करना अत्यन्त वाँछनीय है।

भारतीय संस्कृति विश्व में सबसे उदार एवं सर्वश्रेष्ठ के रूप में प्रसिद्ध है और इस संस्कृति ने पुरुषों और स्त्रियों दोनों के लिए सन्तुलित जीवन शैली का स्वरूप अपनाई थी। महिलाएँ और उनका जीवन वैदिक काल से लेकर आधुनिक और उत्तर-आधुनिक काल तक कई पड़ावों से गुज़रा है। प्राचीन काल में स्त्री को पुरुष की अर्धांगिणी और सहचरी के रूप में स्वीकार किया जाता था, लेकिन समय के बदलाव के साथ इसमें भी कई बदलाव आये।

2.3.1 वैदिक काल में स्त्री

वैदिक काल में पितृसत्तात्मक व्यवस्था थी, स्त्री धार्मिक जीवन में पति की सहयोगिनी होती थी। युद्ध, यज्ञ तथा माँगलिक अनुष्ठानों एवं आयोजनों में उसे महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता था। अर्धनारीश्वर, देवी आदि अनेक पूज्य स्थान देकर स्त्रियों को गौरवान्वित किया गया तथा इस काल में उन्हें शिक्षा के सभी अधिकार प्राप्त थे। इस युग की स्त्रियों की स्थिति और पहचान के बारे में देवेश ठाकुर कहते हैं, "तत्कालीन समाज में धार्मिक कृत्यों से लेकर राजनीति तक नारी के समानाधिकार तथा सम्मान की भावना को प्रतिष्ठित किया गया। तत्कालीन समाज में स्त्री आर्थिक स्वातंत्र के साथ-साथ शिक्षा तथा विचार स्वातंत्र के अधिकारों का उपभोग कर अपनी वैयक्तिकता के प्रति जागृत रही।" [10]

उत्तर वैदिक काल या ब्राह्मण काल में भी स्त्रियों की स्थिति अच्छी रही। ऊँची जातियों में पुरुषों की तरह उन्हें भी उपनयन संस्कार और शिक्षा जैसी गतिविधियों में अधिकारिणी के रूप में देखा जाता था और शिक्षा के लिए स्त्रियों को गुरुकुल के बजाय रिश्तेदारों के घर भेजा जाता था। स्त्रियों ने अपने व्यक्तित्व की पहचान हासिल कर ली थी, उन्होंने पुरुषों की तरह ही अपने स्वत्व को सफलतापूर्वक व्यक्त किया था और दार्शनिक

बैठकों एवं आध्यात्मिक चर्चाओं में भाग लिया था। जबकि अधिकांश पुरुष युद्ध में लगे हुए थे, स्त्रियाँ घर और अन्य कार्यों की देखभाल करती थीं।

एक स्त्री को अपनी शादी के समय अपने पति चुनने का अधिकार था। इस युग में बाल विवाह, विधवा पुनर्विवाह जैसी प्रथाएँ तो नहीं थीं, लेकिन बहुविवाह और बेमेल विवाह जैसी हानिकारक प्रथाओं के कारण स्त्रियों की स्थिति एवं दशा में गिरावट होने लगी। इस काल में धीरे-धीरे पुरुषों और स्त्रियों की महत्वपूर्ण स्थिति में बदलाव आया और दोनों के सामाजिक दृष्टिकोण में भी अन्तर आ गया। हालाँकि, प्रकृति के दृष्टिकोण से, स्त्रियों और पुरुषों की कई मान्यताएँ में भिन्न होते हैं।

बदलते परिवेश, समसामयिक सामाजिक परिदृश्य एवं परिस्थितियाँ आदि विभिन्न कारणों से स्त्रियों के अस्तित्व में भिन्नता भिन्नता देखी गयी। इस समय की सामाजिक विचारधारा में सदैव परिवर्तन होता रहता है। प्राचीन विचारधारा से प्रभावित स्त्री, "न उसे पढ़ने-लिखने दिया जाता है, न घर से बाहर जाने की अनुमति है और न अपने विषय में खुलकर सोचने का अवकाश है। वह खुलकर भावाभिव्यक्ति को भी नहीं अपना सकती।" [11]

स्त्रियाँ सदियों पुरानी रीति-रिवाज़ों और परम्पराओं के बोझ तले दबी हुई हैं; वह अपने पति को भगवान का स्थान देती है यानी उसे भगवान मानती है, चाहे पति कितना भी क्रूर या स्वार्थ हो, उसे इससे कोई फर्क नहीं पड़ता, उसे अपने पति के चरणों में दासी बनकर रहना होता है। सामाजिक नैतिकता में स्त्रियों की एक अलग नियति होती है और ऐसा महसूस होता है जैसे सामाजिक नैतिकता के नियम केवल स्त्रियों के लिए ही बनाए गए हैं। "नैतिक भूलों के लिए पुरुष समाज की दृष्टि से क्षम्य था परन्तु नारी अक्षम्य थी। वही भूल अगर नारी करती थी तो उसके विरुद्ध कानूनी कारवाही की जाती थी। उसके लिए सामाजिक दण्ड नियत किए गए थे परन्तु पुरुष केलिए सामाजिक दण्ड का कोई विधान न था।" [12] परिणामस्वरूप स्त्रियों के स्वभाव में हताशा, परेशानी, व्यथा, कुंठा, शोषण की मौन स्वीकृति और पुरुष प्रभुत्व को स्वीकार करने की प्रवृत्ति उभरी। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि आज भी स्त्रियाँ इन प्राचीन विचारधाराओं की सराहना करने लगी हैं।

2.3.2 महाकाव्य काल में स्त्री

महाकाव्य काल अर्थात रामायण और महाभारत का समय से है और इन दोनों ग्रन्थों का भारतीय जनजीवन में अत्यंत सम्मानजनक स्थान है। इस युग में समृद्धि के कारण विलासिता की प्रवृत्ति अधिक विकसित हुई। इस काल में स्त्रियाँ विद्वान बनने के बजाय तपस्या, त्याग, विनम्रता और पतियों की सेवा जैसे कार्यों में अधिक व्यस्त हो गईं। यहाँ एक ओर स्त्री को महिमामंडन किया गया है, वहीं दूसरी ओर उन पर अनैतिक आरोप भी लगाए गए हैं, फिर भी स्त्रियों को धार्मिक कार्य करने, शिक्षा प्राप्त करने और सम्पत्ति का अधिकार भी प्राप्त थ।

रामायण काल तक स्त्रियों को शिक्षा का अधिकार था, जो महाभारत काल तक समाप्त हो गया। इस युग में स्त्रियों की दुर्दशा शुरू हो गई थी ताकि बाल विवाह और बहुविवाह प्रथा में वृद्धि हुई और विधवा पुनर्विवाह पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। विवाह प्रत्येक लड़की के लिए अनिवार्य हो गया और अपने पति की सेवा और आज्ञापालन एक महत्वपूर्ण कर्तव्य बन गया। "नारी की स्वतंत्रता कम होने लगी। इस युग में नारी को भावनाशून्य एक वस्तु के समान समझा जाने लगा जो पतिव्रत धर्म-पालन के लिए विवश थी।"[13]

समाज की प्रगति उन ज़िम्मेदारियों पर निर्भर करती है जो स्त्रियाँ समाज की धुरी, माँ और पत्नी के रूप में निभाती हैं। अन्य युगों की भाँति महाकाव्य काल में भी भारतीय समाज में पुत्र को पुत्री से अधिक प्रिय माना जाता था। महाभारत और रामायण में स्त्रियों की स्थिति का वर्णन एक विरोधाभासी स्थिति को दर्शाता है क्योंकि कुछ मामलों में स्त्रियों को बड़ी अकुशलताओं और अयोग्यताओं के प्रभाव में माना जाता था, जबकि अन्य में उन्हें पुरुषों की तुलना में अधिक अधिकार और स्वतंत्रता प्राप्त थी। कहीं उसे पुरुष की अर्धांगिनी और उसकी सबसे अच्छी मित्र कहा गया है, तो कहीं कहा गया है कि लाखों में एक स्त्री में ही पवित्रता होती है; एक ओर जहाँ उसे देवी माना जाता है वहीं दूसरी ओर उसे नरक का द्वार भी माना जाता है।

लेकिन इन उद्धरणों से यह नहीं समझना चाहिए कि समाज में पुत्री या स्त्री नितान्त अनादृत और उपेक्षित थी। हालाँकि समाज में पुत्री की अपेक्षा पुत्र की कामना अधिक की जाती थी, फिर भी पुत्रियों में अपने माता-पिता के प्रति पर्याप्त प्रेम था। कम उम्र में शादी के कारण स्त्रियों में शिक्षा की कमी थी, उनकी शिक्षा का स्तर दिन-ब-दिन गिरता चला गया। परिणामस्वरूप स्त्री की स्वत्व एवं अस्मिता पर सवाल उठाए गए और नैतिकता के नाम पर उन पर उन पर कई प्रतिबन्ध लगाए गए। स्त्रियों को अपनी व्यक्तिगत पहचान भी नहीं मिल सकी; साथ ही मातृ रूप को छोड़कर अन्य रूपों में उसका महत्व और सम्मान भी कम हो गया।

2.3.3 जैन और बौद्ध काल में स्त्री

जैन काल के दौरान, स्त्रियों को बड़े पैमाने पर उपेक्षा की गई और उन्हें पुरुष की मोक्ष प्राप्ति में बाधा माना गया। इस युग में स्त्रियों को शिक्षा से वंचित रखा गया था और उन्हें केवल यौन सन्तुष्टि का साधन माना जाता था स्त्री का स्वत्व पतित एवं चरित्रहीन स्त्री के समान था।

बौद्ध काल में स्त्रियों को थोड़ा सम्मान प्राप्त था। गौतम बुद्ध के निर्वाण के बाद स्त्रियों की स्थिति बेहतर हो गई गयी और वे मात्र एक भोग्या बनकर रह गयीं। "बुद्ध के निर्वाण के पश्चात बौद्ध धर्म के वृक्ष से महायान और व्रजयान नामक दो शाखाएँ फूटी उनके सिद्ध साधकों ने तो नारी-देह पर आसन जमाकर बौद्ध मठों में नारी का जमघट-सा लगा दिया था। इन हठयोगियों का जीवन मैथुन-मंत्र के मध्य ही व्यस्त रहने लगा तथा नारी जाति इनकी काम तृप्ति में सहायक होने लगी।" [14]

बौद्ध साहित्य की जातक कथाओं में स्त्रियों की पवित्रता एवं आदर्श के साथ-साथ उनकी हीन भावना का भी चित्रण किया गया है। बौद्ध भिक्षुणियों को थेरी कहा जाता था और वे समाज के विभिन्न स्तरों से आती थीं। "थेरियाँ राजमहर्षियों से लेकर वेश्याओं और अस्पृश्यों के समाज के प्रत्येक वर्ग से आती थी। आयु में भी उनमें बड़ा अन्तर होता था। कुमारिकाएँ,

वृद्धाएँ और विधवाएँ सभी थेरी बन जाती थी।" [15] स्त्रियों की इन भिन्न स्थितियों के कारण बौद्ध मठों में व्यभिचार बढ़ गया और उनके प्रति दृष्टिकोण दूषित एवं भ्रष्ट हो गया।

2.3.4 मध्ययुगीन काल में स्त्री

मध्य युग में भारत पर मुस्लिम शासकों का शासन था, "मुसलमानों के आक्रमणों और मुगलों के राज्य के बाद भारत में स्त्रियों की स्थिति में और गिरावट आई। ब्राह्मणों ने रक्त की शुद्धता, स्त्री-सतीत्व और हिन्दू धर्म की रक्षा के नाम पर उसे इतने अधिक सामाजिक बन्धनों से जकड़ दिया कि उसके स्वतंत्र अस्तित्व का नामोनिशान न रहा।" [16]

मुस्लिम शासकों के क्षेत्रीय विस्तार के लालच के कारण विभिन्न क्षेत्रों पर हमले होते रहे और पराजित क्षेत्रों से लड़कियों के अपहरण की घटनाएँ बढ़ती गईं। अत्याचारों के डर से बाल विवाह, पर्दा प्रथा, विधवा केशवपन, सती प्रथा जैसी कुप्रथाओं का जन्म हुआ। इस समय स्त्रियों की शिक्षा पर पूर्णतः प्रतिबन्ध लगा दिया गया और व्यक्तिगत स्वत्व ख़त्म हो गयी। अपवाद के रूप में, दक्षिण भारत में स्त्रियों को निजी शिक्षा प्राप्त होती थी और उन्हें कला के क्षेत्र में भी कुछ छूट दी जाती थी। मध्यकाल में स्त्री को दासी और भोग्या के रूप में जीवन व्यतीत करना पड़ता था तथा सामान्य स्त्री की आस्था अत्यन्त शोचनीय बनी रहती थी।

चूँकि विदेशी आक्रमणों का प्रभाव उत्तर भारत में अधिक था, इसलिए स्वाभाविक था कि भारत के जीवन में अधिक स्थिरता आयेगी। इसलिए वहाँ बाल, विवाह पर्दा प्रथा, सती प्रथा जैसी कुरीतियाँ नहीं पनपीं। "दक्षिण में मध्यकाल में भी स्थानीय भाषाओं और संस्कृत भाषा में कई कवयित्रियों और लेखिकाओं के नाम मिलते हैं। शास्त्रीय नृत्य के नूपुर-भी मन्दिरों में सिमटकर, वहीं छनकते रहें। इससे लगता है, वहाँ स्त्री-शिक्षा और कलाओं का प्रचार-प्रसार जारी रहा।" [17]

2.3.5 आधुनिक काल में स्त्री

आधुनिक युग की शुरुआत में ब्रिटिश शासन था, मुगल काल की अराजक स्थिति का अंग्रेज़ों ने भरपूर लाभ उठाया और अपना शासन स्थापित किया; लेकिन अंग्रेज़ों से सम्पर्क का

लाभ यह हुआ कि भारतीय समाज में जागृति की लहर आ गयी और शिक्षा के द्वार भी सभी के लिए खुल गये। स्त्रियों की स्थिति में भी सकारात्मक परिवर्तन होने लगे जिससे औद्योगिक क्षेत्रों का विस्तार हुआ और अंग्रेज़ों ने भारतीय बाज़ारों में विदेशी वस्तुओं की आपूर्ति के लिए भारतीय गाँवों में स्थित कुटीर उद्योगों को नष्ट कर दिया। लोगों ने आजीविका के लिए शहरों में शरण ली। भारतीय समाज एक बार फिर नये शोषण के लिये विवश हो गये; पहले से ही शोषित महिलाएँ दलित और पीड़ित बन गईं।

उत्तरार्द्ध के पुनर्जागरण युग में अज्ञानता एवं अन्धविश्वास को दूर करने के प्रयासों के बावजूद, स्त्रियों की शिक्षा और सुधार के लिए विभिन्न संगठन आगे आये और विभिन्न सामाजिक संस्थाओं एवं सामाजिक कार्यकर्ताओं ने स्त्रियों की शिक्षा में सुधार के प्रयास किये। "स्वतंत्र्योत्तर भारत के व्यवस्थापकों, समाज सुधारकों ने इस बात की तीव्र आवश्यकता अनुभव की है कि नारी विषयक मध्यकालीन सामन्ती सांस्कारिकता को समाप्त करके नारी को पुरुष के समान अधिकार दिए जाने चाहिए।" [18]

बीसवीं सदी में पुनर्जागरण काल के समाज सुधारकों ने स्त्रियों को विभिन्न बन्धनों की जंजीरों से मुक्त कराया और स्त्री स्वतंत्रता का नारा बुलन्द किया। जिससे वे अपने अधिकारों और स्वत्व के प्रति जागरूक होने लगीं तथा वह हर क्षेत्र में पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर काम करने लगीं, जिससे उनमें हीन भावना नष्ट होने लगी, "आधुनिक युग में नारी के सहयोग से विश्व की सृजनात्मक आस्थामूलक पुनर्रचना करने की सम्भावना ने नारी को पुरुष के समकक्ष लाकर खड़ा कर दिया है।" [19]

पुरुष अब स्त्री के सहयोग और उपयोग की अपरिहार्यता को समझ चुके हैं। स्त्री ने भी अब आँसू बहाना बन्द कर दिया और अपनी सुधारवादी आवाज़ उठाई। उन्होंने सदियों से चली आ रही अपनी दुःखद कहानी को समाज के सामने प्रस्तुत कर सहानुभूति प्राप्त की, जिससे स्त्रियों के प्रति संकीर्ण दृष्टिकोण परिष्कृत हुआ और उन्होंने अपने पारम्परिक मूल्यों को बदलने का प्रयास किया। "आधुनिक स्त्री प्राचीन परम्पराओं का त्याग पूर्ण रूप से तो

नही कर पाई है पर उन पुरानी सड़ी-गयी परम्पराओं से स्वयं को किसी सीमा तक मुक्त अवश्य करा पाई है।"[20]

डॉ. जौहरा आफ़झल के अनुसार, "साठोत्तरी कथा-साहित्य में श्रमजीवी नारी वह स्वाभिमान, आत्मनिर्भरता, समता की चाह से उद्वेलित बन चुकी है। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध आधुनिक दृष्टिकोण और शिक्षा के कारण सामाजिक औदार्यपूर्ण दिखाई देते हैं। आधुनिक युग से स्त्री में चेतना आ चुकी है, जिससे उसमें साहस का निर्माण भी हो चुका है।"

वर्तमान परिवेश में स्त्रियों को अपनी स्वत्व के पहचान की आवश्यकता है। स्त्रियों के प्रति समाज के नज़रिए और विचारधारा में बदलाव आ रहा है, लेकिन एक विशिष्ट परिस्थिति में समाज आज भी स्त्री स्वत्व को समसामयिक दृष्टिकोण और विचारधारा के साथ स्वीकार करने में पीछे है। एक स्त्री के लिए अपने जीवन में सब कुछ करना, युगीन दृष्टिकोण को समझना और साँस्कृतिक मूल्यों एवं विचारधारा में बदलाव का अध्ययन करने का अवसर प्राप्त करना महत्वपूर्ण है।

2.4 स्त्री स्वत्व के नए सन्दर्भ एवं पाश्चात्य दृष्टि

वर्तमान साहित्य में विशेषकर उपन्यास साहित्यिक विधा में स्त्रीवाद, स्त्री अस्तित्व, अस्मिता, स्त्री विमर्श, स्त्री चेतना आदि आन्दोलन दृष्टिगोचर होते हैं। स्त्रीवाद का मूल विचार यानी स्त्री स्वत्व का मूल विचार ही नारी मुक्ति है। यह सोच और विचार हर स्त्री को सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि सभी क्षेत्रों में स्वतंत्रता की ओर इशारा करने के लिए प्रेरित करता है।

स्त्री स्वत्व की खोज में स्त्री मुक्ति आन्दोलन की बड़ी भूमिका है क्योंकि स्त्रीवाद, स्त्री चेतना और नारी मुक्ति आन्दोलन एक ही सिक्के के दो हिस्से हैं यानी दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। स्त्री स्वत्व के नये सन्दर्भ में स्त्री एवं स्त्री मुक्ति आन्दोलन का अपना एक अलग हिस्सा है, अर्थात स्त्री के ऊपर प्रचलित आदर्शों, मान्यताओं, विश्वासों, मूल्यों, सभ्यताओं, बुराइयों, तनावों, कुरीतियों, कुंठाओं, त्रासदियों, सामाजिक पराधीनताओं एवं पितृसत्तात्मक

अधीनस्थताओं आदि से मुक्त करने का प्रयास ही स्त्री मुक्ति आन्दोलन हैं। मृदुला गर्ग के शब्दों में, "मैं समझती हूँ कि फेमिनिज़म का मतलब नारी मुक्ति नहीं है, सोच की मुक्ति है। नारी मुक्ति आन्दोलन को एक साथ ही नहीं अपितु पाश्चात्य और भारत सन्दर्भ में अलग-अलग करके देखना लगता है।"[21]

2.4.1 पश्चिम का स्त्री मुक्ति आन्दोलन

पश्चिम में स्त्रियों की स्थिति पुरुषों की तुलना में पिछड़ी हुई थी यानी उन्हें दोयम दर्जे का नागरिक माना जाता था। उस समय के साहित्य में स्त्री की इस छवि को केवल पुरुषों के लिए ही माना गया और उनके बाहरी स्वरूप को अधिक प्राथमिकता दी गई, जिससे सौन्दर्य प्रसाधनों का तकनीकी रूप से विस्तार हुआ। इस प्रकार, पश्चिमी स्त्रियों को सम्पत्ति के अधिकार सहित सामाजिक-राजनीतिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया। उनकी सामाजिक-पारिवारिक अधीनस्थ स्थिति धर्म, कानून और सामाजिक नियमों द्वारा अनुमोदित एवं स्वीकृत थी तथा उनकी अमानवीय स्थिति सामंतवाद के युग तक जारी रही।

औद्योगिक क्रान्ति के दौरान, जब सामंतवाद ढीला पड़ा, तो स्त्रियों को घर की सीमाओं से मुक्त होने का अवसर मिला। सामाजिक उत्पादन में स्त्रियों की भागीदारी बढ़ती रही, जिससे पहली बार स्त्रियों में सामाजिक अधिकारों के प्रति चेतना पैदा हुई। समाज के शोषित, पीड़ित और उत्पीड़ित वर्ग ने स्वतंत्रता, समानता और मातृत्व के नारे लगाये; तब लोकतांत्रिक अधिकारों से वंचित स्त्रियों में अपनी स्थिति से लड़ने के लिए अलग से संगठित होकर लड़ने की चेतना पैदा हुई। किसी की स्वत्व या स्वतंत्र अस्मिता के प्रश्न ने स्त्री संगठन की आवश्यकता को अत्यन्त आवश्यक बना दिया था। परिणामस्वरूप, १८ वीं और १९ वीं शताब्दी के अन्त में यूरोप और अमेरिका में स्त्री मुक्ति आन्दोलन विकसित हुआ, जो लोकतंत्र से संबंधित है, "नारी मुक्त आन्दोलन का सम्बन्ध जनतंत्र से बहुत गहरा है और मानव-मुक्ति इसकी जननी है।" [22]

स्त्री मुक्ति आन्दोलन पुनर्जागरण और प्रबोधन काल के मानवतावाद और बुर्जुआ लोकतांत्रिक क्रान्तियों से सम्बन्धित था। स्त्रियों को एक साथ दो मोर्चों पर लड़ना था, पुरुष

सत्ता के खिलाफ जो लिंग के आधार पर स्त्रियों को दोयम दर्जे का दर्जा देती थी और उस पूंजीवादी संस्कृति के खिलाफ जो स्त्रियों को निम्न श्रेणी के दिहाड़ी मजदूरों और बेजान वस्तु में बदलने की साजिश रच रही थी। पश्चिमी स्त्री मुक्ति आन्दोलन की पृष्ठभूमि में फ्रांसीसी क्रान्ति और इंग्लैंड की औद्योगिक क्रान्ति का विशेष महत्व है। इन क्रान्तियों से स्त्रियों की बुनियादी स्थिति में बदलाव की आशा परिलक्षित हुई। पश्चिमी स्त्रियाँ सदैव एक शोषित वर्ग थीं; इसलिए वे सदियों तक शोषण का शिकार बने रहे।

साठ के दशक में पश्चिमी देशों में स्त्री शोषण और यौन उत्पीड़न के खिलाफ आन्दोलन चला। इन आन्दोलनों में एक निश्चित एवं सुसंगठित वैचारिक पृष्ठभूमि का अभाव था और ये केवल पुरुष सत्ता के विरुद्ध संघर्ष था। अमेरिकी क्रान्ति के बाद, पश्चिमी स्त्रियों ने मतदान के अधिकार औरसम्पत्ति सहित सामाजिक समानता की माँग की। विचारकों का मानना है, "स्त्री मुक्ति के प्रश्न पर चिन्ता और वैचारिक संघर्षों की शुरुआत दो शताब्दियों से भी कुछ पहले अमेरिकी और यूरोपीय बुजृआ जनवादी क्रान्तियों की पूर्व बेला में हुई थी। जब जागरूक स्त्रियों ने मनुष्य के प्राकृतिक अधिकार और स्वतंत्र-समानता-भ्रातृत्व की घोषणाओं को स्त्रियों केलिए भी लागू करने की माँग उठाई। तब से लेकर आज तक विश्व के प्रायः सभी हिस्सों में स्त्री आन्दोलन का स्त्री-पुरुष समानता एवं अधिकारों के विविध पक्षों को लेकर बहस चली।" [23]

2.4.2 स्त्री मुक्ति आन्दोलन का प्रथम चरण

पश्चिम में स्त्री मुक्ति आन्दोलन का पहला चरण मतदान के अधिकार की माँग के साथ शुरू हुआ। उस समय स्त्रियों के लिए मतदान के अधिकार की माँग को लेकर असहमति थी। जब इंग्लैंड और अमेरिका में महिला मतदान आन्दोलन प्रारम्भ हुआ तो वहाँ के प्रत्येक वयस्क नागरिक को वोट देने का अधिकार नहीं था, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, किसी भी वर्ग की महिला को यह अधिकार प्राप्त नहीं था। अमेरिका की कैरी चैपमैन कैट (Carrie Chapman Catt 1858-1947) समाज के एक विशिष्ट वर्ग को ही मतदान का अधिकार देने के पक्ष में थीं, जिसका यूरोपीय स्त्रीवाद के एक हिस्से ने भी समर्थन किया था। कैरी चैपमैन कैट और अन्य

प्रमुख महिलाओं द्वारा तैयार किए गए 'National American Women Sufferage principles' इसी उद्देश्य से शुरू हुआ। इसके विपरीत, एक दूसरी धारा थी जो महिलाओं के साथ-साथ श्रमिक वर्ग, काले लोगों और अप्रवासी महिलाओं के लिए अधिकारों की माँग कर रही थी। २०वीं सदी की शुरुआत में वोट देने का अधिकार ब्रिटेन और अमेरिका में महिला आन्दोलन की एक प्रमुख माँग बन गया।

सन १८९० ई. के आसपास अमेरिका में महिलाओं ने राजनीतिक अधिकारों की माँग की। 'अमेरिका नारी मुक्ति समिति' की स्थापना ल्यूक्रेटिया मांट ने की थी। अमेरिका में मताधिकार की शुरुआत सन १८६९ ई. में हुई। उसी वर्ष, सुसन बी. एंथोनी ने 'नारी वोट' के लिए एक राष्ट्रीय समिति की स्थापना की। सन १८९३ ई. में कोलोराडो में और सन १८९९ ई. में इडाहो तथा यूटा में महिलाओं को वोट देने का अधिकार मिला। स्त्रियों के अथक प्रयासों के परिणामस्वरूप सन १९२० ई. में स्त्रियों को कानूनी वैधता प्रदान की गई और वोट देने का अधिकार दिया गया। पश्चिम के अन्य देशों में भी मतदान के अधिकार के लिए आन्दोलन हुए, धीरे-धीरे महिलाओं को वोट देने का अधिकार मिल गया।

न्यूज़ीलैंड में सन १८९४ में, ऑस्ट्रेलिया में सन १९०१ में, कनाडा में सन १९१७ में और फ्रांस में सन १९३२ में स्त्रियों को वोट देने का अधिकार दिया गया। दक्षिण अफ़्रीका में पहली बार गैर-रंगभेदी महिलाओं को सन १९९४ में वोट देने का अधिकार दिया गया। सन १९३० तक, पश्चिम में स्त्रियों को व्यापक राजनीतिक और कानूनी समानता प्राप्त हुई थी। इस प्रकार सन १९३० से 'स्त्री मुक्ति आन्दोलन' की गति धीमी हो गयी।

2.4.3 स्त्री मुक्ति आन्दोलन का दूसरा चरण

साठ के दशक के पश्चिमी स्त्री मुक्ति आन्दोलन का दूसरा चरण स्त्रियों के शोषण के खिलाफ विद्रोह था, जिसे द्वितीय विश्व युद्ध द्वारा प्रोत्साहित किया गया था। महिलाओं को लगा कि कानूनी समानता के बावजूद, सामाजिक जीवन में अभी भी उनके खिलाफ भेदभाव किया जाता है। इसी को ध्यान में रखते हुए स्त्री मुक्ति आन्दोलन का दूसरा चरण प्रारम्भ हुआ, जिसे व्यक्त करते हुए सरला माहेश्वरी ने लिखा है, "इस प्रकार के दो-तीन दशकों के

बीतने के साथ ही क्रमशः नये सामाजिक यथार्थ की गहराई से जाँच की जाने लगी और कानून तथा सिद्धान्तों के स्तर पर घोषित समानता के लक्ष्यों के विपरीत व्यवहार के स्तर पर सामाजिक जीवन में महिलाओं के प्रति जो भेदभाव बरकरार है, उस पर ध्यान दिया जाने लगा।" [24]

सन १९४९ में सिमोन डी ब्यूवोइर ने 'द सेकेंड सेक्स' लिखकर स्त्री मुक्ति आन्दोलन में चुप्पी तोड़ी और पश्चिम में 'वुमेन लिब' या 'स्त्री मुक्ति' की शुरुआत की। सन १९६३ में बेट्टी फ्रीडन ने 'द फेमिनिन मिस्टिक' लिखकर स्त्रियों के असंतोष को व्यक्त किया। सन १९६६ ई. में आन्दोलन की अग्रणी संस्था 'नेशनल आर्गनाइज़ेशन आफ विमेन' की स्थापना की गयी। सन १९७० ई. में अमेरिकी महिलाओं को वोट देने का अधिकार मिलने की पचासवीं वर्षगांठ मनाई गई।

स्त्री मुक्ति आन्दोलन स्त्रियों में चेतना जगाने में सफल रहा। परिणाम यह हुआ कि महिलाएँ घर की दहलीज लाँघकर खुलेआम सड़कों पर आ गईं और अपने अधिकारों तथा अपनी दयनीय स्थिति से छुटकारा पाने के लिए नारे लगाने लगीं और न्याय की गुहार लगाने लगीं। पश्चिम का स्त्री मुक्ति आन्दोलन स्त्री की स्वतंत्र अस्मिता के प्रश्न को गम्भीरता से उठाने और उसे समाज में महत्वपूर्ण स्थान दिलाने में सफल रहा है। स्त्री मुक्ति पर विभिन्न वैचारिक विचारों का प्रभाव पड़ा, जिनमें समाजवादी नारीवाद, उदार नारीवाद और उग्र नारीवाद प्रमुख हैं।

2.4.4 स्त्री मुक्ति आन्दोलन और प्रेरक साहित्य - पश्चिमी सन्दर्भ में

साहित्य ने पश्चिमी स्त्री मुक्ति आन्दोलनों में बड़ी भूमिका निभाई, जिसने पुरुष वर्चस्व के पारम्परिक प्रतिमानों का खण्डन करने के साथ-साथ स्त्रियों को शिक्षित और प्रोत्साहित करने, उन्हें पुरुषों के समकक्ष बनाने की की माँग की। स्त्रियों को शोषित और पीड़ित स्थिति से मुक्ति दिलाने, समाज में उन्हें इन्सान का दर्जा दिलाने और उनके अधिकारों के प्रति जागरूक करने में साहित्य ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

इस दिशा में पहला प्रयास मैरी वोल्स्टनक्राफ्ट ने किया था। सन १७९२ ई. में प्रकाशित मैरी वोल्स्टनक्राफ्ट की 'विन्डिकेशन ऑफ द राइटर्स ऑफ वूमेन' (Vindication of the Righters of Women) स्त्रीवाद पर लिखी गई पहली पुस्तक है, जो पुरुषों के बराबर महिलाओं के लिए कानूनी और राजनीतिक अधिकारों की वकालत करती है। इसलिए इस पुस्तक को स्त्रियों के विचार व्यक्त करने वाली पहली पुस्तक होने का गौरव भी प्राप्त हुआ।

स्त्री आन्दोलन को प्रोत्साहित करने वाली महत्वपूर्ण अन्य पुस्तकें हैं- सन १८९६ ई. में प्रकाशित स्टुअर्ट मिल की पुस्तक 'ए सब्जेक्शन ऑफ वूमेन' (A subjection of women) ने पश्चिम में स्त्री मुक्ति आन्दोलन को बढ़ावा दिया। सन १९४२ ई. में वर्जीनिया वुल्फ की 'ए रूम ऑफ वन्स ओन' (A room of one's own) और इसी सन्दर्भ में मेरी एलेन की 'थिंकिंग अबाउट अ वुमन', (Thinking about a women), केट मिलेट की 'सेक्सुअल पॉलिटिक्स' (Sexual Politics) आदि पुस्तकों के माध्यम से स्त्रीवादी आन्दोलन और अधिक मुखर हो गया।

फ्रांसीसी लेखिका सिमोन डी बेवॉयर की 'द सेकेंड सेक्स' (The second sex) सन १९४९ ई. में प्रकाशित हुई थी, जिसमें स्त्रियों से सम्बन्धित संवेदनशील मुद्दों पर विचार करते हुए स्त्रियों को दोयम दर्जा देने की विचारधारा का ज़ोरदार खण्डन किया गया था। जिसमें ये सच्चाई सामने आई है कि, "औरत जन्म से ही औरत नहीं होती बल्कि बढ़कर औरत बनती है।" [25] समाज में हर जगह स्त्रियों को अन्यायी माना जाता है। सिमोन ने पहली बार स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता का मुद्दा उठाया।

सन १९६३ ई. में प्रकाशित बेट्टी फ्रीडन की किताब 'द फेमिनिन मिस्टिक' यानी 'नारी- रहस्य' विश्व प्रसिद्ध स्त्रीवादी कृतियों में से एक है। प्रस्तुत कृति में यह सत्य उजागर हुए कि समाज स्त्रियों को जीवन भर माँ, पत्नी, गृहिणी और मालकिन की निश्चित भूमिकाएँ अपनाने के लिए बाध्य करता रहा है। आन्दोलन के उग्रवादी रुख से दुखी बेट्टी फ्रीडन ने अपनी दूसरी पुस्तक 'द सेकेंड स्टेज' (The Second Stage) में स्त्रियों के अधिकारों और स्वतंत्रता के नष्ट होने की सम्भावना को देखते हुए परिवार के महत्व को स्वीकार करने और पूर्व स्थिति में लौटने का आह्वान किया।

केट मिलेट और जर्मन ग्रीर ने 'सेक्सुअल पॉलिटिक्स' और 'फीमेल यूनक' लिखकर चरमपंथी समूह का समर्थन किया। केट मिलेट ने भी 'फ्री सेक्स' और समलैंगिकता का समर्थन किया, पुरुष-प्रधान समाज का विरोध करते हुए यौन क्रान्ति का आह्वान किया और एक 'फीमेल यूनक' लेख लिखा, जिसे बाद में 'प्रिजनर्स ऑफ सेक्स' शीर्षक से प्रकाशित किया गया, जिसमें उन्होंने व्यक्त किया है कि पुरुष सदैव खुद को स्त्री से छोटा और हीन पाता है।

सन १९७१ ई. का 'न्यू पोर्टगीज़ लैटर्स', जिसमें तीन पुर्तगाली लेखकों ने अपने देश में स्त्रियों की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थिति का विवरण दुनिया के सामने रखा। ब्रिटेन की एना कूटे ने 'गार्जियन' पुस्तक लिखकर चीनी महिला समाज में व्याप्त कई भ्रांतियों को दूर करने का प्रयास किया। स्त्रियों को जागृत करने और सम्बन्धित आन्दोलनों में भाग लेने के लिए प्रेरित करते हुए, एना कूट ने अपने वकील मित्र टेस गिल के साथ मिलकर 'वीमेन्स राइट्स', 'ए प्रेक्टिकल गाइड' पुस्तक लिखी, जो ब्रिटेन में बहुत लोकप्रिय हुई। ली डेलकोम्बे ने 'विक्टोरियन लेडीज़-एटवर्क' लिखकर फ्रांसीसी कक्रान्ति के बाद स्त्रियों में जागृत हुई चेतना पर विस्तृत प्रकाश डाला।

सन १९७५ ई. में प्रकाशित सुसन ब्राउनमिलर की कृति 'अगेंस्ट अवर विल, 'मेन, वीमेन एंड रेप' बलात्कार के इतिहास और इसके सभी पहलुओं पर प्रकाश डालती है। यह आन्दोलन धीरे-धीरे अपनी राह भटक गया, जिसके प्रतिरोध में अमेरिकी गृहिणी मैराबेल मॉर्गन की 'द टोटल वुमन' और डॉ. डोरोथी टेनोव और डॉ. श्रीमति हेट फील्ड की 'लिमरेंस' प्रकाशित हुईं। इस प्रकार पश्चिमी साहित्य ने स्त्री मुक्ति आन्दोलन में अभूतपूर्व योगदान दिया है।

2.5 स्त्री स्वत्व के नए सन्दर्भ एवं भारतीय दृष्टि

भारतीय समाज अन्धविश्वासों और रूढ़ियों में डूबा हुआ घुटन भरा जीवन जी रहा था। धार्मिक नैतिकता के नाम पर कर्मकाण्ड और पाखण्ड प्रचलित थे। रक्त की शुद्धता, स्त्री सतीत्व की रक्षा तथा हिन्दू धर्म की रक्षा के नाम पर ब्राह्मणों ने सामाजिक बन्धनों को और

अधिक कड़ा कर दिया था। पुनर्जागरण काल में स्त्री की खोई हुई मानवीय गरिमा को पुनः प्राप्त करने के अथक प्रयास प्रारम्भ हुए।

भारत में महिलाओं का अतीत गौरवशाली रहा है। " प्राचीन काल से लेकर पूरे मध्यकाल तक, पूर्व आधुनिक काल तक भी हमारे यहाँ निजी अधिकारों के लिए अपने पतियों, भाइयों से लड़ने की मिसालें नहीं के बराबर हैं। अपने ही पुरुषों के खिलाफ स्त्रियों की सामूहिक लड़ाइयाँ या आन्दोलन तो बिल्कुल नहीं। लड़ाइयाँ हैं देश-समाज केलिए, धर्म-रक्षा केलिए, अपनी आन- बान, अस्मिता की रक्षा केलिए।" [26] पुनर्जागरण काल के दौरान उन्हें उनकी गिरी हुई स्थिति से उबारने और उन्हें मनुष्य के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया गया, जिसकी शुरुआत स्वयं पुरुषों ने की थी।

स्त्री एवं स्त्री का जीवन वैदिक काल से लेकर आधुनिक और उत्तर-आधुनिक काल तक कई चरणों से गुज़रा है। पुराने समय में स्त्री को पृथ्वी की तरह क्षमाशील और सहनशील होना पड़ता था, लेकिन आजकल उसे समझौतावादी बनना पड़ता है। यह बोझ एक स्त्री को जीवन भर झेलना पड़ता है और घर के सभी कर्तव्यों को निभाने की प्राथमिक ज़िम्मेदारी हमेशा स्त्रियों के कन्धों पर होती है। दरअसल, पुरुषों और स्त्रियों के बीच चलने, बैठने और काम करने की 'स्पेस' बराबर नहीं है तो इसके लिए पितृसत्तात्मक समाज और नियम-कायदे ज़िम्मेदार हैं।

माना जाता है कि ज़माना बदल गया है, अब स्त्रियाँ पूरी तरह से स्वतंत्र हैं, लेकिन इस आज़ादी को वह किस हद तक महसूस कर रही है यह तो स्त्री ही जानती है। अगर कोई स्त्री पूरी तरह से स्वतंत्र है तो उसे स्त्री होने पर गर्व ज़रूर महसूस होगा। क्या कभी ऐसा समय आया जब कोई स्त्री स्वयं अपने स्त्री होने पर गर्व कर सके? इसका एकमात्र कारण यह है कि आज भी कई स्त्रियाँ ऐसी हैं जो खुद को स्त्री होने के लिए कोसती हैं। इसका एक कारण यह भी है कि समाज आज भी स्त्री को पहले एक शरीर और फिर एक इन्सान मानता है।

आधुनिक युग के नये परिवेश में जहाँ स्त्रियों को अधिक स्वतंत्रता मिली है वहीं उन्हें कई समस्याओं का सामना भी करना पड़ता है। आर्थिक रूप से स्वावलम्बी तथा स्वतंत्र होने का दावा करते हुए भी उन्हें कई वित्तीय समस्याओं का समाधान करना पड़ता है। स्त्रियों को समाज में दर्जा मिलने के बजाय ज़िम्मेदारियाँ दी गई हैं, उनकी ज़िम्मेदारियाँ बढ़ गई हैं।

2.5.1 भारत का स्त्री मुक्ति आन्दोलन

भारत में स्त्री मुक्ति आन्दोलन का अपना इतिहास है। सामन्ती युग में स्त्रियाँ सभी प्रकार के अधिकारों से पूर्णतः वंचित थीं, चाहे वे सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक अथवा राजनीतिक हों। लेकिन पूंजीवादी शासन काल में स्त्रियों की स्थिति में बदलाव आया। अमेरिकी क्रान्ति, फ्रांसीसी क्रान्ति जैसी विभिन्न प्रकार की विश्व स्तरीय क्रान्तियों का प्रभाव भारतीय स्त्रियों पर भी पड़ा। परिणामस्वरूप प्रथम महिला क्लब की शुरुआत हुई, जिसमें समानता, विकास, स्वतंत्रता, सशक्तीकरण आदि अनेक विषयों पर माँगें उठाई गईं।

अठारहवीं सदी की शुरुआत तक 'स्त्री मुक्ति' का प्रश्न समाज का एक महत्वपूर्ण मुद्दा बनकर उभरा। यहाँ भारत में स्त्रियाँ पुरुषों के खिलाफ नहीं लड़ती थीं, पश्चिम में पुरुष स्त्रियों के प्रतिद्वंद्वी थे, लेकिन भारत में वे पुरुषों की प्रतिद्वंद्वी नहीं थीं, क्योंकि भारतीय स्त्री मुक्ति आन्दोलन में पुरुष की भूमिका 'सहयोगी एवं मार्गदर्शक' की है। स्त्री मुक्ति, स्त्री जागरण, स्त्री शिक्षा के विचारों का समर्थन केवल पुरुष वर्ग ने ही किया। भारतीय समाज में एक आधुनिक शिक्षित मध्यम वर्ग का उदय हुआ। सती प्रथा, बाल विवाह, बहुविवाह, पर्दा प्रथा, बेमेल विवाह, दहेज प्रथा जैसी कुरीतियों पर गहराई से विचार कर उन्हें जड़ से उखाड़ने का काम किया गया जो जनजागरण और स्त्रियों की यथास्थिति को मजबूत करने में बाधक थे।

भारत में पहली बहस बंगाल और महाराष्ट्र में हुई, जिसका मुख्य कारण इस क्षेत्र में कई समाज सुधारकों का जन्म है। भारत में स्त्री मुक्ति आन्दोलन की शुरुआत समाज सुधारकों और राष्ट्रीय नेताओं द्वारा की गई थी, जिनमें राजाराम मोहन राय और दयानन्द

सरस्वती प्रमुख योगदानकर्ता हैं। स्त्री मुक्ति आन्दोलन की शुरुआत राजाराम मोहन राय के 'सती विरोधी आन्दोलन', ईश्वर चंद विद्यासागर के 'विधवा पुनर्विवाह अनुमति आन्दोलन' आदि से हुई।

पुनर्जागरण के अग्रदूत राजाराम मोहन राय पहले भारतीय थे जिन्होंने सती प्रथा के खिलाफ आन्दोलन चलाया तथा सन १८१५ में उन्होंने एक पुस्तक लिखी, जिसका सन १८१८ में अंग्रेज़ी में अनुवाद किया गया। 'A conference between an Advocate and an opponent of the practice of burning widows alive' के आधार पर उन्होंने सती प्रथा को अमान्य घोषित किया। उनके अथक प्रयासों के परिणामस्वरूप सन १८२९ में तत्कालीन गवर्नर जनरल विलियम बेंटिक द्वारा सती उन्मूलन अधिनियम पारित किया गया।

महर्षि कर्वे, ज्योतिबा फुले, अम्बेडकर, ईश्वरचंद विद्यासागर, महादेव गोविंद रानाडे, स्वामी विवेकानन्द आदि समाज सुधारकों ने इस दिशा में कदम उठाया और स्त्री जागृति की दिशा में सराहनीय कार्य किया। "पुरुष द्वारा भारतीय स्त्री चेतना का यह उद्घोष विश्व महिला आन्दोलन की एक अनुपम विशिष्टता है यहाँ स्त्रियों को दुर्दशा से उबारने का पीड़ पुरुष जाति ने आगे बढ़कर उठाया। आगे चलकर यही नारी कल्याण और प्रगति का आधार बना।" [27] भारत में पुनर्जागरण की प्रकृति एक समान नहीं थी। जहाँ बंगाल के पुनर्जागरण ने उच्च वर्ग के हितों को व्यक्त किया, वहीं महाराष्ट्र के पुनर्जागरण के केन्द्र में दलित रहे।

सती प्रथा के विरोध के साथ-साथ स्त्री शिक्षा के लिए किये गये संघर्ष स्त्री शिक्षा के प्रसार की दिशा में महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। स्त्रियों की शिक्षा के लिए आन्दोलन को आम तौर पर उभरते मध्यम वर्ग की स्त्रियों को पश्चिमी स्त्रियों के अनुरूप बनाने की आवश्यकता की प्रतिक्रिया के रूप में उद्धृत किया गया था। हेमलता महिश्वर के शब्दों में, "यहाँ पर मुझे यह भी कहना है कि उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी में मुलीन समाज में नारी शिक्षा किसी सामाजिक सुधार या चेतना को लेकर नहीं, बल्कि अंग्रेज़ समाज में अपनी घुसपैठ बनाने केलिए थी। अंग्रेज़ समाज में स्त्रियों को घर के बाहर भी जो सम्मान प्राप्त था, उनकी सभ्यता और

संस्कृति, उनके बच्चों की शिक्षा, व्यवहार से कुलीन समाज प्रभावित था। जब वह इनकी तुलना अपने बच्चों से करता स्त्रियों से करता तो सौम्यता के स्थान पर जाहिलपना पाता।" [28]

लड़कियों के लिए पहला स्कूल सन १८१० ई. में ब्रिटिश और ईसाई मिशनरियों द्वारा खोला गया था लेकिन उनका मुख्य उद्देश्य शिक्षा की आड़ में धर्म का प्रचार करना था। सन १९१६ में, धोंडो केशब कर्वे, जिन्हें महर्षि कर्वे के नाम से भी जाना जाता है, ने 'श्रीमती नत्थी बाई दामोदर विश्वविद्यालय' की स्थापना की, जो महाराष्ट्र का पहला महिला विश्वविद्यालय था। सन १८४८ में ज्योतिबा फुले ने लड़कियों के लिए अपना पहला स्कूल खोला और सन १८५२ में उन्होंने तीन 'कन्या पाठशाला' और अछूतों के लिए एक स्कूल की स्थापना की।

बंगाल में सुधार आन्दोलन के दौरान विधवा पुनर्विवाह का प्रश्न एक महत्वपूर्ण मुद्दा रहा है, जिसमें ईश्वर चन्द्र विद्यासागर का योगदान महत्वपूर्ण है। सन १८५० में उन्होंने धार्मिक ग्रन्थों का हवाला देकर विधवा पुनर्विवाह की दिशा में अथक प्रयास किए और स्त्रियों को मानवीय गरिमा प्रदान करने के लिए बंगला में एक पुस्तिका लिखी, जिसका अंग्रेज़ी में अनुवाद 'Marriage of Hindu Widows' नाम से किया गया। विधवाओं की स्थिति सुधारने के लिए उन्होंने 'हिन्दू विधवा आश्रम' तथा महिला विद्यालयों की स्थापना की। 'सती उन्मूलन अधिनियम' (१८२९) और 'विधवा पुनर्विवाह अधिनियम' (१८५६) स्त्रियों को सामाजिक अन्याय से मुक्ति दिलाने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम थे।

सन १८८० में भारत में औद्योगिक श्रमिकों (विशेषकर महिला श्रमिकों और बाल श्रमिकों) की स्थिति में सुधार के लिए 'फ़ैक्टरी कानून' की माँग की गई। बाल विवाह विरोधी आन्दोलन सन १८८० में शुरू हुआ, जिसके दौरान शादी की उम्र बढ़ाने की माँग की गई, हालाँकि सन १८६० में एक कानून पारित किया गया जिसमें शादी की उम्र दस साल तय की गई। सन १८९१ में तिलक ने 'सम्मति आयु अधिनियम' (Age of Consent Act) के विरुद्ध आन्दोलन का नेतृत्व किया, जिसके परिणामस्वरूप विवाह की आयु दस से बढ़ाकर बारह वर्ष

कर दी गई। सन १९२९ में 'बाल विवाह निषेध अधिनियम' पारित किया गया जो स्त्रियों की सामाजिक स्थिति एवं परिस्थितियों को सुधारने में सहायक सिद्ध हुआ। परिणामस्वरूप स्त्री शिक्षा में प्रगति हुई और स्त्रियों के व्यक्तित्व विकास के अवसर बढ़े। सन १९२६ में स्त्रियों ने पहली बार चुनाव में भाग लिया और सन १९२७ में 'अखिल भारतीय महिला संगठन' की स्थापना हुई।

स्वतंत्रता संग्राम में स्त्रियों ने भी बड़ी संख्या में भाग लिया, जिस प्रकार पुरुषों ने पुलिस की लाठियाँ खाईं और जेल गए, उसी प्रकार महिलाएँ भी जेल गईं; इसी तरह भारतीय महिलाएँ भी घर से बाहर निकलने लगीं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद संविधान में स्त्रियों को समान अधिकार दिये गये। स्त्री आन्दोलन में स्त्री उत्पीड़न, स्त्री शोषण, लैंगिक भेदभाव केन्द्रीय मुद्दे बनकर उभरे।

स्त्री मुक्ति आन्दोलन के परिणामस्वरूप देश के कोने-कोने में अनेक महिला संगठनों की स्थापना हुई, जिनका मुख्य उद्देश्य स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार दिलाना, उनकी विभिन्न पारिवारिक, सामाजिक, साँस्कृतिक एवं आर्थिक समस्याओं का समाधान खोजना, स्त्रियों को पारम्परिक रूढ़ियों से मुक्त कराना, उन्हें स्वतंत्रता प्रदान करना तथा जीवन जीने के लिए प्रेरित एवं प्रोत्साहित करना था। सन १९७४ में गुजरात में नवनिर्माण आन्दोलन के दौरान स्त्रियों की सम्पूर्ण समस्याओं पर 'प्रगतिशील महिला संगठन' द्वारा विचार किया गया। श्रम विभाजन में भेदभाव के कारण स्त्रियों ने 'महिला समता सैनिक दल' का गठन किया जिसने स्त्रियों की जुझारू छवि पर जोर दिया।

भारतीय नारी मुक्ति आन्दोलन के बारे में ममता कालिया जी का कथन हैं, "भारत का नारी मुक्ति आन्दोलन भी कुछ-कुछ ऐसा ही है। उसका सारा ढाँचा विदेशी है। इसलिए वह भारतीय नारी की समस्याओं से काफी परे हैं। इसका यह कारण वह है, हमारे यहाँ नारी को एक भावुक इकाई बनाकर पेश किया जाता है। ज़रूरत है उसे औरत के रूप में देखने की। जब कभी भी औरत अपने अधिकारों की माँग करती है तो परिवार में वह सबसे दृस्थी समझी जाती है। उसकी प्रताडना में पुरुष भी कम योगदान नहीं देता।" [29]

उन्नीसवीं सदी में पहली बार पूरे विश्व में स्त्रियों की समस्याओं, बुराइयों, हमलों, उपेक्षाओं और कुंठाओं पर सार्वजनिक रूप से चर्चा होने लगी। भारत में इसका व्यापक प्रसार और प्रभाव था, जिसके परिणामस्वरूप शिक्षा, पत्रकारिता और चिकित्सा के क्षेत्र में स्त्रीवादी गतिविधियों का विस्तार हुआ। स्त्री जागृति, जो उन्नीसवीं सदी में पुरुषों द्वारा शुरू की गई थी, बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में महिलाओं द्वारा संभाली गई। "वह अपनी गुलामी के अवशेषों को चुनौती देने केलिए खुद खड़ी हुई है, क्योंकि पुरुष एक सीमा के बाद अपने हितों और अंतर्निहित संस्कारों की वजह से स्त्री की विस्तृत स्वाधीनता की कल्पना करने में असमर्थ होता है।" [30]

स्त्रियों के अधिकारों के साथ-साथ शिक्षा, सामाजिक सुधार, सामाजिक परिवर्तन, देश की आज़ादी और सामाजिक पुनर्निर्माण की माँगें पंडिता रमाबाई, रमाबाई रानाडे, भगिनी निवेदिता, स्वर्ण कुमारी देवी, चट्टोपाध्याय, विजयलक्ष्मी पंडित, रामेश्वरी नेहरू ने उठाईं। उनका आन्दोलन पुरुषों के खिलाफ खड़े होने के लिए नहीं बल्कि अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा वापस पाने के लिए था, "वास्तव में यह नारी मुक्ति आन्दोलन, नारी को पुरुष से मुक्ति दिलाने केलिए नहीं, नारी की खोई हुई शक्ति, सम्मान व स्थिति, जो प्राचीनकाल में थी उसे पुनः अर्जित करने का प्रयास है। यह नारी शोषण, असमानता, नारी अत्याचार और आर्थिक परतंत्रता के विरोध में है।" [31]

भारतीय परिप्रेक्ष्य में स्त्री मुक्ति आन्दोलन की शुरूआत उन्नीसवीं सदी से हुई। भारत में स्त्री आन्दोलन को दो भागों में बाँटकर विश्लेषण एवं मूल्यांकन करना बेहतर प्रतीत होता है। एक जो मुख्य रूप से सुधारवादी क्रान्ति थी, जिसमें पुरुषों ने सामाजिक कुरीतियों एवं संस्थाओं के खिलाफ आन्दोलन चलाया। दूसरे, स्त्री शिक्षा के पक्ष में जो क्रान्ति हुई, जिसमें बाल विवाह, सती प्रथा, दहेज प्रथा आदि का विरोध और विधवा पुनर्विवाह आदि में क्रान्ति शामिल थी। फिर भी, यह बात ध्यान देने योग्य है कि दुनिया के कई विदेशी देशों में आम स्त्रियों ने अपने लक्ष्य के लिए जिस तरह की लड़ाई लड़ी, वैसी ही कोई लड़ाई भारत में नहीं

हुई। बीसवीं सदी में राष्ट्रीय आन्दोलन के उदय के साथ, स्त्री मुक्ति आन्दोलन को काफी गति मिली।

स्त्रीवादी आन्दोलन स्त्री अस्मिता की पहचान एवं स्त्री की मुक्ति और प्रगति के लिए उभरा और आज इस पर कई तरह की प्रतिक्रियाएँ आ रही हैं। इन सबके बावजूद महिलाएँ आज भी हाशिए पर हैं और लगातार शोषण का शिकार हो रही हैं। आज भी हर जगह चाहे वह बच्चा हो, लड़की हो या महिला, उनका कई तरह से शोषण किया जा रहा है। आज भी ऐसी स्त्रियाँ हैं जिन्हें सिर्फ स्त्री होने के कारण कई तरह की परेशानियों का सामना करना पड़ रहा है।

2.5.2 स्त्री मुक्ति आन्दोलन से प्रेरक साहित्य

साहित्य की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह अपने समकालीन समाज की साँस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक गतिविधियों को प्रतिबिम्बित करता है और समसामयिक समस्याओं, परिवर्तनों एवं उथल-पुथल को उजागर करके पाठकों तक पहुँचता है। स्त्री मुक्ति आन्दोलन को सक्रिय बनाने में साहित्य ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। स्त्री मुक्ति आन्दोलन के साथ-साथ स्त्रियों ने साहित्य में अस्मिता के लिए संघर्ष शुरू किया। अस्मिता की ओर पहला कदम मीराबाई ने उठाया, उन्होंने पितृसत्तात्मक व्यवस्था को चुनौती दी।

उन्नीसवीं सदी के स्त्री जागरण में अनेक लेखिकाएँ आगे आईं। कई स्त्रियों ने समाचार पत्रों और पत्रिकाओं का संपादन किया और उनके लिए लिखना शुरू किया। स्त्री आन्दोलन की सशक्त पत्रिका 'स्त्री दर्पण' के माध्यम से उस समय की प्रमुख स्त्रीवादी विचारक उमा नेहरू सहित हृदय मोहिनी, हुक्मादेवी, सत्यवती और सौभाग्यवती जैसी लेखिकाओं ने अपने लेखों और कहानियों के माध्यम से सक्रिय भागीदारी निभाई। 'स्त्री दर्पण' पत्रिका के अलावा 'गृहलक्ष्मी', 'आर्य महिला', 'महिला सर्वस्व' आदि पत्रिकाएँ भी सक्रिय रहीं। 'स्त्री दर्पण' पत्रिका सन १९०९ से १९२९ तक नियमित रूप से प्रकाशित होती रही और सन १९२३ से इसका प्रकाशन कानपुर से होने लगा। उस समय की पत्रिकाएँ श्रीमती सत्यवती

की 'स्त्रियाँ और परदा', श्रीमति सौभाग्यवती की 'आधुनिक पर्दा प्रणाली तथा उससे हानियाँ' आदि लेखों से भरी रहती थीं।

बीसवीं सदी में महादेवी वर्मा ने समाज की स्थापित सीमाओं को तोड़कर सामाजिक-साहित्यिक आन्दोलनों में भाग लिया। 'श्रृंखला की कड़ियाँ' के माध्यम से उन्होंने भारतीय परिप्रेक्ष्य में स्त्रियों की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति को उजागर करने का अथक प्रयास किया और स्त्री विमर्श की दिशा में पहल की।

उपन्यास, कहानी, नाटक, निबंध, कविता आदि साहित्यिक विधाओं के माध्यम से स्त्रियों की समस्याओं को केन्द्र में रखा गया। समाज में स्त्रियों के शोषण के साथ-साथ उसके विरुद्ध विद्रोह और प्रतिरोध भी व्यक्त किया गया। भारत में हिन्दी उपन्यास का प्रारम्भिक काल सामाजिक सुधारों का युग था। भारत में हिन्दी उपन्यास का प्रारम्भिक काल सामाजिक सुधारों का युग था जिनके उपन्यासों में लेखकों की सुधारवादी दृष्टि स्पष्ट दिखाई देती थी और उन्होंने सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध समाज में नई चेतना जागृत की।

उस समय के उपन्यासों में बाल विवाह, बेमेल विवाह और विधवाओं की खराब स्थिति के प्रति आक्रोश की भावना झलकती थी। स्त्री शिक्षा पर ज़ोर देते हुए पं.गौरीदत्त के 'देवरानी-जेठानी की कहानी', कल्याणराय का 'बामा शिक्षक', श्रद्धाराम फिल्लोरी का 'भाग्यवती' आदि उपन्यास लिखी गईं। हिन्दी उपन्यास पश्चिमी साहित्यिक चिन्तन से प्रभावित थे और उनमें मार्क्सवाद, मनोविश्लेषणवाद, व्यक्तिवाद, अस्तित्ववाद एवं मनोवैज्ञानिक विचारा का प्रभाव भी परिलक्षित होता था।

प्रेमचन्द युग से हिन्दी कथा साहित्य में एक नये युग की शुरुआत हुई। इस युग में स्त्री शिक्षा तथा विधवा पुनर्विवाह को प्रोत्साहन दिया गया। प्रेमचन्द ने स्त्रियों की समस्याओं पर गहरी चिन्ता व्यक्त की और उन्हें अपने उपन्यासों में चित्रित करके समाज को जागृत करने का प्रयास किया। प्रेमचन्द के बाद का काल हिन्दी उपन्यास में अनेक प्रयोगों और परिवर्तनों का काल था।

आज़ादी के बाद बदलती सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के कारण स्त्रियों की स्थिति में भी बदलाव आया। शिक्षित स्त्रियों का दायरा बढ़ा और उनके अधिकारों की माँग मजबूत हुई तथा स्त्रियाँ अधिक आश्वस्त हुईं, स्त्रियों के शोषण और उत्पीड़न के प्रति उनकी चेतना जागृत हुई। उपन्यासों के पटल पर उभरीं महिला उपन्यासकारों की रचनाओं में स्त्रियों के अधिकारों के प्रति जागरूकता, तीक्ष्णता, प्रखरता और पितृसत्तात्मक समाज की कड़ी आलोचना दृष्टिगोचर होती हैं। इनमें कृष्णा अग्निहोत्री, कृष्णा सोबती, रजनी पणिक्कर, मंजुल भगत, मृदुला गर्ग, निरुपमा सेवती, मालती जोशी, सूर्यबाला आदि प्रमुख थीं। साठ के दशक के बाद उभरीं लेखिकाओं में चित्रा मुद्गल, नासिरा शर्मा, मैत्रेयी पुष्पा, अनामिका, राजी सेठ, कुसुम अंसल, गीतांजलि श्री, सुशीला टाकभौरे, क्षमा शर्मा, प्रभा खेतान ने स्त्री विमर्श को नए ढंग से उठाना शुरू किया।

राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास के दौरान राजनीतिक अधिकारों का प्रश्न उठा। भारत में 'स्त्री मुक्ति' के प्रश्न को 'देश की आज़ादी' के प्रश्न से अलगाकर नहीं देखा जाता था, "भारतीय स्त्री-विमर्श पाश्चात्य स्त्री विमर्श से इस अर्थ में भिन्न और विशिष्ट है कि उसमें नारी जागरण व्यापक राष्ट्रीय सरोकारों का हिस्सा बनकर आया है। आज़ादी की लड़ाई भी साथ-मिलकर लड़ी गई है।" [32]

निष्कर्ष

विभिन्न प्रकार के स्त्री मुक्ति आन्दोलनों के माध्यम से समाज और साहित्य में स्त्रियों को देखने-परखने का एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया जा रहा है। स्त्रियाँ अपने अधिकारों के प्रति जागरूक एवं सचेत हो गई हैं तथा वे अपने अधिकारों की माँग जुझारू ढंग से कर रही है और आज उन्हें किसी के सहारे की ज़रूरत नहीं है। आज व्यवस्था में महिला शोषण की जड़ें तलाशने और व्यवस्था में बदलाव लाने का प्रयास किया जा रहा है। इसके लिए महिला और पुरुष दोनों की मानसिकता को बदलने पर ज़ोर दिया जा रहा है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. राजेन्द्र यादव, हँस, जून २००३, पृष्ठ: ९.
2. मुंशी प्रेमचंद, कर्मभूमि, पृ: २२२.
3. मिल, स्त्रियों की पराधीनता, प्रगति, २००२, पृ: ३७.
4. डॉ. गणेशदास, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी में नारी के विविध रूप, पृ: १०७.
5. डॉ. गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृ: ०७.
6. आशारानी व्होरा, नारी शोषण आईने और आयाम, पृ: २४६.
7. तस्लीमा नसरीन, औरत के हक में, पृ: ९९.
8. डॉ. शीला राजवार, स्वातंद्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य में नारी के बदलते सन्दर्भ, पृ: २४.
9. वही, पृ: २०१.
10. देवेश ठाकुर, देवेश ठाकुर रचनावली, पृ: १२.
11. डॉ. कश्मीरी लाल, महिला कथाकार: समाजशास्त्रीय एवं भाषिक संकल्पना, पृ: २३.
12. डॉ. योगेश सूरी, यशपाल के उपन्यासों में नारी जीवन की समस्याएँ, पृ: २०.
13. डॉ.ज्ञान अस्थाना, हिन्दी कथा साहित्य समकालीन सन्दर्भ, पृ: ०८.
14. डॉ. सावित्री डागा, आधुनिक मुक्त काव्य में नारी, पृ: १८-१९.
15. डॉ. गजानन शर्म, प्राचीन भारतीय साहित्य में नारी, पृ: १३६.
16. डॉ. आशारानी व्होरा, भारतीय नारी दशा और दिशा, पृ: १२०.
17. डॉ. आशारानी व्होरा, भारतीय नारी: दशा और दिशा, पृ: ७-८.
18. डॉ. मंजुलता सिंह, हिन्दी कहानी में युगबोध, पृ: १२५.
19. डॉ. जे. एम. देसाई, आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी, पृ: १८६.
20. सं. नन्द किशोर मिश्र, भाषा- अंक: २, नवम्बर, १९९९, पृ: ७८.
21. मृदुला गर्ग, चुकते नहीं सवाल, पृ: ७६.
22. रमणिका गुप्ता, स्त्री विमर्श: कलम और कुदाल के बहाने, पृ: २२.

23. मेरी वोलस्टन क्राफ्ट, स्त्री अधिकारों का औचित्य साधन, मीनाक्षी (अनुवादक), संपादकीय से.

24. सरला माहेश्वरी, नारी प्रश्न, पृ: ३२-३३.

25. प्रभा खेतान, स्त्री उपेक्षिता, पृ: १३१.

26. आशारानी व्होरा, नारी विद्रोह के भारतीय मंच, पृ: १५.

27. डॉ. ओमप्रकाश शर्मा, समकालीन महिला लेखन, पृ: ६७-६८.

28. हेमलता महिश्वर, स्त्री लेखन और समय के सरोकार, पृ: २९.

29. ममता कालिया, मेरे साक्षात्कार, पृ: ४६.

30. शम्भुनाथ, हिन्दी नवजागरण और संस्कृति, पृ: ११३.

31. डॉ. उषा बाला, महिला मुक्ति आन्दोलन और महिला दशक की सार्थकता, पृ: ६६.

32. सुमन राजे, राष्ट्रीय आन्दोलन और महिला लेखन, पृ: २३.